

ही कारण है। बन्ध का कारण होने से संसार का ही कारण है ह्व ऐसा श्रुतज्ञान के पारंगत आचार्य कहते हैं। इसलिए भव्य जीवों को निश्चय रत्नत्रय के लिए ही प्रयत्न करना चाहिए। व्यवहार रत्नत्रय को भी सर्वथा न छोड़ कर निश्चय रत्नत्रय का साधक समझना चाहिए।

८२. उत्तम क्षमाधर्म, मुनियों की सर्वप्रथम सहायता करने वाला

मालिनी

जडजनकृत-बाधाऽक्रोशहासाऽप्रियादा-;

वपि सति न विकारं, यन्मनो याति साधोः।

अमलविपुलचित्तरुत्तमा सा क्षमादौ-;

शिवपथपथिकानां, सत्सहायत्वमेति॥८२॥

अज्ञानीकृत बाधा बन्धन, कटु वचनों के कहने पर।

निर्मल चित्त न विकृत होता, उत्तम क्षमाधर्म सुखकर॥

अर्थ ह्व मूर्खजनों द्वारा किए हुए बन्धन, क्रोध, हास्य आदि के होने पर तथा कठोर वचनों के बोलने पर भी जो साधु, अपने निर्मल धीर-वीर चित्त से विकृत नहीं होता, उसी का नाम उत्तम क्षमा है। यह उत्तम क्षमा, मोक्षमार्ग में जाने वाले मुनियों की सबसे पहले सहायता करने वाली है।

८३. यतिधर्म का तीव्र विघातक, क्रोध

वसन्ततिलका

श्रामण्यपुण्यतरुच्यगुणौघशाखा-;

पत्रप्रसूननिचितोऽपि फलान्यदत्त्वा।

याति क्षयं क्षणत एव घनोग्रकोप-;

दावानलात् त्यजत तं यतयोऽतिदूरम्॥८३॥

गुण-पत्रों-पुष्पों से शोभित यति-तरु नहीं किञ्चित् फल दे।

क्रोधाग्नि से त्वरित नष्ट हों, अतः यतीश्वर क्रोध तर्जें॥

अर्थ ह्व आचार्य कहते हैं कि गुणरूपी शाख-पत्र-फूलों से सहित यह यतिरूपी वृक्ष है। यदि इसमें भयंकर क्रोधरूपी दावानल प्रवेश कर जावे तो यह किसी प्रकार फल न देकर बात ही बात में नष्ट हो जाता है। इसलिए यतीश्वर, क्रोध आदि को वे दूर से ही छोड़ देते हैं।

भावार्थ ह्र जिस वृक्ष पर नाना प्रकार की मनोहर शाखाएँ मौजूद हैं, पत्र-फूलों से भी जो शोभित हो रहा है और अल्प काल में ही जिस पर फल आने वाले हैं ह्र ऐसे वृक्ष में यदि अग्नि, प्रवेश कर जावे तो वह शीघ्र ही जल जाता है, उस पर किसी प्रकार का फल नहीं आता; उसी प्रकार जो मुनि, सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र आदि गुणों से सहित हैं, किन्तु अभी तक जिनके क्रोध, मानादिक शान्त नहीं हुए हैं ह्र ऐसे मुनि को कदापि स्वर्ग-मोक्षादि की प्राप्ति नहीं हो सकती; इसलिए मुनिजनों को चाहिए कि वे क्रोधादि को अपने पास भी फटकने न दें।

८४. राग-द्वेष रहित क्षमाधारी मुनियों के विचार

शार्दूलविक्रीडित

तिष्ठामो वयमुज्ज्वलेन मनसा, रागादिदोषोज्झिताः;
लोकः किञ्चिदपि स्वकीयहृदये, स्वेच्छाचरो मन्यताम्।
साध्या शुद्धिरिहात्मनः शमवतामत्रापरेण द्विषा;
मित्रेणापि किमु स्वचेष्टितफलं, स्वार्थः स्वयं लप्स्यते॥८४॥

स्वेच्छाचारी लोक हमें, चाहे जैसा माने मन में।
किन्तु राग-द्वेषादि रहित हम, अपना निर्मल चित्त रखें।।
राग-द्वेष परिणामों का फल, सबको मिलता अपने आप।
प्रशमभावयुत मुनिजन को बस! आत्मशुद्धि ही होती साध्य।।

अर्थ ह्र राग-द्वेषादि से रहित होकर हम तो अपने उज्ज्वल चित्त से रहेंगे। स्वेच्छाचारी यह लोक, अपने हृदय में चाहे हमको भला-बुरा कैसा भी मानो क्योंकि शमी पुरुषों को अपने आत्मा की शुद्धि करनी चाहिए। इस लोक में वैरी अथवा मित्रों से हमको क्या है? अर्थात् वे हमारा कुछ भी नहीं कर सकते क्योंकि जो हमारे साथ द्वेषरूप तथा प्रीतिरूप परिणाम करेगा, उसका फल उसको अपने आप मिल जाएगा।

८५. क्षमाधारक की समस्त जगत् को सुखी देखने की भावना

स्रग्धरा

दोषानाघुष्य लोके, मम भवतु सुखी, दुर्जनश्चेद्भनार्थी;
मत्सर्वस्वं गृहीत्वा, रिपुरथ सहसा, जीवितं स्थानमन्यः।
मध्यस्थस्त्वेवमेवाऽखिलमिह हि जगत्, जायतां सौख्यराशिः;
मत्तो माभूदसौख्यं, कथमपि भविनः, कस्यचित्पूत्करोमि॥८५॥

दुर्जन होय सुखी मम दोषों, को दुनिया में घोषित कर।
 धन-लोभी सर्वस्व ग्रहण कर, बैरी मम जीवन लेकर॥
 मध्यस्थ गहें मेरी पदवी सब, जीव जगत् के सुखी रहें।
 करूँ पुकार जगत् में मुझसे, नहीं किसी को दुःख पहुँचे॥

अर्थ हूँ मेरे दोषों को सबके सामने प्रकट कर संसार में दुर्जन सुखी होवें। धन का अर्थी, मेरे समस्त धन आदि को ग्रहण कर सुखी होवें। वैरी, मेरे जीवन को लेकर सुखी होवें। जिनको मेरा स्थान लेने की अभिलाषा है, वे मेरा स्थान लेकर आनन्द से रहें। जो राग-द्वेष रहित मध्यस्थ होकर रहना चाहें, वे मध्यस्थ होकर सुख से रहें। इस प्रकार समस्त जगत् सुख से रहे, किन्तु किसी भी संसारी को मुझसे दुःख न पहुँचे हूँ ऐसा मैं सबके सामने पुकारपुकार कर कहता हूँ।

८६. तीन लोक के द्वारा पूज्य वीतरागता का प्रभाव

शार्दूलविक्रीडित

किं जानासि न वीतरागमखिलं, त्रैलोक्यचूडामणि;
 किं तद्धर्ममुपाश्रितं न भवता, किं वा न लोको जडः।
 मिथ्यादृग्भिरसज्जनैरपटुभिः, किञ्चित्कृतोपद्रवात्;
 यत्कर्मारजनहेतुमस्थिरतया, बाधां मनो मन्यसे॥८६॥

वीतरागता पूज्य त्रिजग में, रे मन! क्या तू नहीं जाने।
 जिसका आश्रय लिया कहो वह, धर्म नहीं क्या पहिचाने॥
 दुर्जन द्वारा किये उपद्रव, से तू विचलित होता है।
 कर्मोपार्जन करता है क्यों, नहीं जाने तू जग जड़ है॥

अर्थ हूँ हे मन! मिथ्यादृष्टि दुर्जन मूर्खजनों से किये हुए उपद्रव से चंचल होकर कर्मों के पैदा करने में कारणभूत ऐसी वेदना का तू अनुभव करता है सो क्या तीन लोक के द्वारा पूजनीक वीतरागता को तू नहीं जानता है? अथवा जिस यति-धर्म का तूने आश्रय किया है, क्या उस धर्म को तू नहीं जानता है? अथवा यह समस्त लोक अज्ञानी जड़ है हूँ इस बात का तुझे ज्ञान नहीं है?

भावार्थ हूँ तीन लोक के द्वारा पूजनीक वीतराग भाव को जानता हुआ भी तथा सच्चे धर्म का अनुयायी होकर भी तथा समस्त लोक को जड़ समझता हुआ भी हे मन! मिथ्यादृष्टियों से दिये हुए दुःख से दुःखित होता है हूँ यह बड़ा आश्चर्य है।

८७. अष्ट मदों के त्यागरूप उत्तम मार्दवधर्म

वसन्ततिलका

धर्माङ्गमेतदिह मार्दवनामधेयं;
जात्यादिगर्वपरिहारमुशन्ति सन्तः।
तद्धार्यते किमुत, बोधदृशा समस्तः;
स्वप्नेन्द्रजालसदृशं, जगदीक्षमाणैः॥८७॥

यह मार्दवधर्माङ्ग! जाति बल, आदि मदों के त्याग-स्वरूप।

इसके धारक, जग को देखें, इन्द्रजाल या स्वप्न-स्वरूप॥

अर्थ ह्म उत्तम पुरुष, जाति-बल-ज्ञान-कुल आदि गर्वों के त्याग को मार्दव धर्म कहते हैं ह्म यह धर्मों का अंगभूत है; इसलिए जो मनुष्य, अपनी सम्यग्ज्ञानरूपी दृष्टि से समस्त जगत् को स्वप्न तथा इन्द्रजाल के तुल्य देखते हैं, वे अवश्य ही इस मार्दव नामक धर्म को धारण करते हैं।

८८. शरीर के सम्बन्ध में मुनियों के विचार

शार्दूलविक्रीडित

कास्था सद्मनि सुन्दरेऽपि परितो, दन्दह्यमानेऽग्निभिः;
कायादौ तु जरादिभिः प्रतिदिनं, गच्छत्यवस्थान्तरम्।
इत्याऽऽलोचयतो हृदि प्रशमिनः, शश्वद्विवेकोज्ज्वले;
गर्वस्याऽवसरः कुतोऽत्र घटते, भावेषु सर्वेष्वपि॥८८॥

सुन्दर घर भी जले चतुर्दिश, तो बचने की क्या आशा?।

प्रतिदिन जर्जर होती काया, के टिकने की क्या आशा?॥

अतः मुनीश्वर निर्मल उर में, नित विवेक से करें विचार।

जाति ज्ञान कुल आदि विषय में, मद का अवसर कैसे आय?॥

अर्थ ह्म जो अत्यन्त मनोहर भी है, किन्तु जिसके चारों तरफ अग्नि जल रही है ह्म ऐसे घर के जलने से बचने की, जिस प्रकार अंश मात्र भी आशा नहीं की जाती; उसी प्रकार जो शरीर, वृद्धावस्था से सहित है तथा प्रतिदिन एक अवस्था को छोड़ कर, दूसरी अवस्था को धारण करता रहता है ह्म ऐसा शरीर सदाकाल रहेगा? इसका विश्वास कैसे हो सकता है? इस प्रकार विवेकपूर्वक निर्मल हृदय में विचार करने वाले मुनि के समस्त पदार्थों में अभिमान करने का अवसर ही नहीं है; इसलिए मुनियों को सदा ऐसा ही ध्यान करना चाहिए।

८९. आर्जवधर्म और कुटिल मायाचाररूप अधर्म की तुलना

आर्या

हृदि यत्तद्वाचि बहिः, फलति तदेवाऽऽर्जवं भवत्येतत्।

धर्मो निकृतिरधर्मो, द्वाविह सुरसद्मनरकपथौ॥८९॥

जो मन में हो वही वचन में, वही क्रिया यह आर्जवधर्म।

इनमें विकृति ही अधर्म है, धर्म-स्वर्ग-पथ-नरक-अधर्म॥

अर्थ ह्म मन में जो बात होवे, उसी को वचन से प्रकट करना चाहिए; ऐसा न हो कि मन में कुछ होवे तथा वचन से कुछ अन्य ही बोलें; इसे आचार्य आर्जवधर्म कहते हैं तथा मीठी बात करके दूसरे को ठगना, इसको अधर्म कहते हैं। इनमें से आर्जवधर्म से तो स्वर्ग की प्राप्ति होती है तथा अधर्म, नरक को ले जाने वाला होता है। इसलिए आर्जवधर्म के पालन करने वाले भव्य जीवों को किसी के साथ माया से व्यवहार कदापि नहीं करना चाहिए।

९०. उत्तम आर्जवधर्म से विरुद्ध मायाचार का दुष्ट फल

शार्दूलविक्रीडित

मायित्वं कुरुते कृतं सकृदपि, च्छायाविघातं गुणे-

ष्वाजातेर्यमिनोऽर्जितेष्विह गुरु, -क्लेशैः समादिष्वलम्।

सर्वे तत्र यदासतेऽतिनिभृताः, क्रोधादयस्तत्त्वतः;

तत्पापं बत येन दुर्गतिपथे, जीवश्चिरं भ्राम्यति॥९०॥

अति कष्टों से हुआ उपार्जित, जीवन भर का सद्-गुण-कोष।

पूर्ण नष्ट हो जाता है यदि, एक बार हो माया-दोष॥

क्रोधादिक सारे दुर्गुण ही, कपटभाव में छिपे रहें।

माया से उत्पन्न पाप से, जीव चतुर्गति-भ्रमण करें॥

अर्थ ह्म आचार्य कहते हैं कि यदि एक बार भी किसी के साथ मायाचारी की जाए तो यह मायाचारी, बड़ी कठिनता से संचय किए हुए अहिंसा, सत्य आदि मुनियों के गुणों को फीका कर देती है अर्थात् वे गुण आदरणीय नहीं रह पाते। उस मायारूपी मकान में नाना प्रकार के क्रोधादि शत्रु छिपे बैठे रहते हैं। उससे उत्पन्न हुए पाप से जीव, नाना प्रकार के दुर्गति-मार्गों में भ्रमण करता रहता है। इसलिए मुनिगण मायाचार को अपने पास भी फटकने न दें।

९१. मौन-साधना में उत्तम सत्यधर्म की उत्कृष्ट साधना

आर्या

स्वपरहितमेव मुनिभिः, मितममृतसमं सदैव सत्यं च।
वक्तव्यं वचमथ, प्रविधेयं धीधनैर्मौनम्॥९१॥

निज-पर हितकर अमृत-सम, प्रिय परिमित-वचन सदैव कहें।
पर-पीड़क कटु वचन तजें या, धी-धारी मुनि मौन रहें॥

अर्थ ह्म उत्कृष्ट ज्ञान को धारण करने वाले मुनियों को प्रथम तो बोलना ही नहीं चाहिए। यदि बोलें तो ऐसा वचन बोलना चाहिए, जो समस्त प्राणियों का हित करने वाला हो, परिमित हो, अमृत के समान प्रिय हो और सर्वथा सत्य हो; किन्तु जो वचन, जीवों को पीड़ा देने वाला और कड़वा हो, उस वचन की अपेक्षा मौन-साधना ही अच्छा है।

९२. समस्त व्रत एवं सरस्वती सत्य बोलने वाले के आधीन

अनुष्टुभ्

सति सन्ति व्रतान्येव, सूनृते वचसि स्थिते।
भवत्याराधिता सद्भिः, जगत्पूज्या च भारती॥९२॥

सत्य वचन कहने वाले के, उर में व्रत सब करें निवास।
त्रिभुवन-पूजित सरस्वती का, भी परिणति में हो आवास॥

अर्थ ह्म जो मनुष्य, सत्य वचन बोलने वाला है अर्थात् सत्य व्रत का पालन करने वाला है, उसके समस्त व्रत विद्यमान रहते हैं अर्थात् सत्यव्रत के पालन करने से ही वह समस्त व्रतों का पालन करने वाला होता है। वह सत्यवादी सज्जन पुरुष, तीन लोक के द्वारा पूज्य सरस्वती को भी सिद्ध कर लेता है अर्थात् सरस्वती भी सत्य बोलने वाले के पास रहती है।

९३. सत्यवादी, चक्रवर्ती इन्द्र एवं मोक्षरूपी फल पाने में भी समर्थ

शार्दूलविक्रीडित

आस्तामेतदमुत्र सूनृतवचाः, कालेन यल्लप्स्यते;
सद्भूपत्वसुरत्वसंसृतिसरित्, पाराम्निमुख्यं फलम्।
यत्प्राप्नोति यशः शशांकविशदं, शिष्टेषु यन्मान्यतां;
तत्साधुत्वमिहैव जन्मनि परं, तत्केन संवर्ण्यते॥९३॥

नरपति हो या सुरपति अथवा, हो जाए भव-सागर-पार।
 ये फल तो आगामी भव में, सत् वक्ता को होते प्राप्त॥
 किन्तु इसी भव में वे पाते, उज्ज्वल कीर्ति चन्द्र-समान।
 कैसे वर्णन करें सुफल का, सज्जन गण करते सन्मान॥

अर्थ ह्म आचार्य कहते हैं कि सत्यवादी मनुष्य, आगामी भवों में श्रेष्ठ चक्रवर्ती राजा बनते हैं, इन्द्रादि फल को प्राप्त करते हैं और सबसे उत्कृष्ट मोक्षरूपी फल को भी प्राप्त कर लेते हैं ह्म यह बात तो दूर रहो, किन्तु इसी भव में वे चन्द्रमा के समान उत्तम कीर्ति को पा लेते हैं। शिष्ट मनुष्य, उनको बड़ी प्रतिष्ठा से देखते हैं, वे सज्जन कहे जाते हैं, इत्यादि नाना प्रकार के उत्तम फल उनको मिलते हैं, जो कि सर्वथा अवर्णनीय हैं; इसलिए सज्जनों को अवश्य ही सत्य बोलना चाहिए।

९४. उत्तम शौचधर्म का धारक परस्त्री और परधन से इच्छारहित

आर्या

यत्परदारार्थादिषु, जन्तुषु निःस्पृहमहिंसकं चेतः।
 दुश्छेद्यान्तर्मलहृत्तदेव शौचं परं नाऽन्यत्॥९४॥
 पर-धन नारी में निर्वाञ्छक, वृत्ति अहिंसक सदा रहे।
 अन्तर्मल दुर्भेद्य विनाशक, यही शौच नहीं अन्य कहें॥

अर्थ ह्म जो परस्त्री तथा पराये धन में इच्छारहित हैं, किसी भी जीव को मारने की जिनकी भावना नहीं है और जो अत्यन्त दुर्भेद्य लोभ, क्रोधादि मलों का हरण करने वाला है ह्म ऐसा चित्त ही शौचधर्म है, किन्तु उससे भिन्न कोई शौचधर्म नहीं है।

भावार्थ ह्म गंगा आदि नदियों में स्नान भी किया तथा पुष्कर आदि तीर्थों में भी गए, किन्तु मन, लोभादि से ही संयुक्त बना रहा तो कदापि शौचधर्म नहीं पल सकता, इसलिए मन को सबसे पहले शुद्ध करना चाहिए।

९५. उत्तम शौचधर्म हेतु बाह्य की अपेक्षा अन्तःकरण की शुद्धि अनिवार्य

शार्दूलविक्रीडित

गंगासागरपुष्करादिषु सदा, तीर्थेषु सर्वेष्वपि;
 स्नातस्याऽपि न जायते तनुभृतः, प्रायो विशुद्धिः परा।
 मिथ्यात्वादिमलीमसं यदि मनो, बाह्येऽतिशुद्धोदकैः;
 धौतं किं बहुशोऽपि शुद्ध्यति सुरा, -पूरप्रपूर्णे घटः॥९५॥

गंगा-सागर पुष्करादि, तीर्थों में यदि स्नान करें।
किन्तु विशुद्धि न मन में हो तो, प्राणी सदा अशुद्ध रहें॥
मिथ्यात्वादि मलों से मैला, मन हो शुद्ध कहो कैसे?।
मद्य भरा घट शुचि कैसे हो, कितना भी धोएँ जल से॥

अर्थ ह्य आचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार अत्यन्त घृणित मद्य से भरा हुआ घड़ा यदि बहुत बार शुद्ध जल से धोया भी जाए तो वह शुद्ध नहीं हो सकता; उसी प्रकार जो मनुष्य, बाह्य में गंगा-पुष्कर आदि तीर्थों में स्नान करने वाला है, किन्तु उसका अन्तःकरण नाना प्रकार के क्रोधादि कषायों से मलीमस (मलिन) है तो वह कदापि उत्कृष्ट शुद्धि को प्राप्त नहीं कर सकता, इसलिए मनुष्य को सबसे पहले अपने अन्तःकरण को शुद्ध करना चाहिए क्योंकि जब तक अन्तःकरण शुद्ध न होगा, तब तक सर्व बाह्य क्रियाएँ व्यर्थ हैं।

९६. उत्तम संयमधर्म : काय छहों प्रतिपाल, पंचेन्द्रिय-मन वश करो.....

आर्या

जन्तुकृपार्दितमनसः, समितिषु साधोः प्रवर्तमानस्य।
प्राणेन्द्रियपरिहारं, संयममाहुर्महामुनयः॥९६॥

जीव-दया से भीगा मन हो, पञ्च समिति में हो वर्तन।
इन्द्रिय-विषय तथा हिंसा का, त्याग कहें मुनिवर संयम॥

अर्थ ह्य जिसका चित्त, जीवों की दया से भीगा हुआ है, जो ईर्या-भाषा-एषणा आदि पाँच समितियों का पालन करने वाला है ह्य ऐसे साधु के जो षट्काय के जीवों की हिंसा तथा इन्द्रियों के विषयों का त्याग है, उसी को गणधरादि देव संयमधर्म कहते हैं।

भावार्थ ह्य जब तक दया से चित्त भीगा न रहेगा, ईर्या-भाषा-एषणा आदि समितियों का पालन न किया जाएगा, समस्त जीवों की हिंसा तथा इन्द्रियों के विषयों का त्याग न किया जाएगा; तब तक कदापि संयमधर्म नहीं पल सकता। इसलिए संयमियों को उपर्युक्त बातों पर विशेषतया ध्यान देना चाहिए।

९७. उत्तम संयमधर्म की उत्तरोत्तर दुर्लभता

शार्दूलविक्रीडित

मानुष्यं किल दुर्लभं भवभृतः, तत्रापि जात्यादयः;
तेष्वेवाप्तवचः श्रुतिः स्थितिरतः, तस्याश्च दृग्बोधने।

प्राप्ते ते अतिनिर्मले अपि परं, स्यातां न येनोज्झिते;
स्वर्मोक्षैकफलप्रदे स च कथं, न श्लाघ्यते संयमः॥९७॥

यह नरभव मिलना दुर्लभ है, उसमें दुर्लभ उत्तम जाति।
आप्त वचन सुनना दुर्लभ है, उसमें भी दुर्लभ दीर्घायु।
ये सब होवें प्राप्त किन्तु, दुर्लभ है सम्यग्दर्शन-ज्ञान।
इनसे भी अति दुर्लभ संयम, क्यों न प्रशंसा करें सुजान ?॥

अर्थ ह्य आचार्य कहते हैं कि प्रथम तो इस संसाररूपी गहन वन में भ्रमण करते हुए प्राणियों का मनुष्य होना ही अत्यन्त कठिन है, किन्तु किसी कारण से मनुष्य जन्म प्राप्त भी हो जाए तो उत्तम ब्राह्मणादि जाति मिलना अति दुःसाध्य है। यदि किसी प्रबल दैवयोग से उत्तम जाति भी मिल जाए तो अर्हन्त भगवान् के वचनों का सुनना बड़ा दुर्लभ है। यदि उनके सुनने का भी सौभाग्य प्राप्त हो जाए तो संसार में अधिक जीवन नहीं मिलता। यदि अधिक जीवन भी मिले तो सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होना अति कठिन है। यदि किसी पुण्य के उदय से अखण्ड तथा निर्मल सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति भी हो जाए तो संयमधर्म के बिना वे स्वर्ग तथा मोक्षरूपी फल के देनेवाले नहीं हो सकते। इसलिए संयम सबसे अधिक प्रशंसनीय है, अतः संयमियों को ऐसे संयम की अवश्य रक्षा करनी चाहिए।

९८. उत्तम तपधर्म : द्वादश विध सुखदाय, क्यों न करें निज शक्ति-सम

आर्या

कर्ममलविलयहेतोः, बोधदृशा तप्यते तपः प्रोक्तम्।
तद्द्वेधा द्वादशधा, जन्माम्बुधियानपात्रमिदम्॥९८॥

ज्ञान-नेत्र-धारी साधु जो, कर्मक्षय के हेतु तपें।
दो अथवा बारह प्रकार तप, भव-सागर से पार करें॥

अर्थ ह्य सम्यग्ज्ञानरूपी दृष्टि से भले प्रकार वस्तु के स्वरूप को जान कर, ज्ञानावरणादि कर्ममल के नाश की बुद्धि से जो तप किया जाता है, वही तपधर्म कहा गया है।

वह तप मूल में बाह्य व अभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार का है। १. अनशन, २. अवमौदर्य, ३. वृत्ति-परिसंख्यान, ४. रस-परित्याग, ५. विविक्त-शय्यासन ६. कायक्लेश ह्य इस रीति से छह प्रकार का बाह्य तथा १. प्रायश्चित्त, २. विनय, ३. वैयावृत्य, ४. स्वाध्याय, ५. व्युत्सर्ग ६. ध्यान ह्य इस रीति से छह प्रकार का अभ्यन्तर; इस प्रकार तप के बारह भेद भी हैं। वह तप, संसाररूपी समुद्र से पार होने के लिए जहाज के समान है अर्थात् मोक्ष को देनेवाला है।

९९. उत्तम तपधर्म के द्वारा क्रोधादि कषायों पर विजय

पृथ्वी

कषायविषयोद्भट, -प्रचुरतस्करौघो हठात्;

तपः सुभटताडितो, विघटते यतो दुर्जयः।

अतो हि निरुपद्रवः, चरति तेन धर्मश्रिया;

यतिः समुपलक्षितः, पथि विमुक्तिपुर्याः सुखम्॥९९॥

विषय-कषायरूप तस्कर हों, उद्धत और महाबलवान्।

किन्तु सुभट तप-सन्मुख हो तो, तत्क्षण ही होते निष्प्राण॥

धर्मरूप लक्ष्मी से शोभित, योगी तप-योद्धा के संग।

शिवपुर-पथ में गमन करें वे, अति सुख से होकर निःशंक॥

अर्थ ह आचार्य कहते हैं कि यद्यपि क्रोधादि कषायरूपी उद्धत तथा प्रबल चोरों का समूह दुर्जय है अर्थात् साधारण रीति से जीतने में नहीं आ सकता तो भी जिस समय तपरूपी प्रबल योद्धा, उसके सामने आता है, उस समय उसकी कुछ भी तीन-पाँच नहीं चलती अर्थात् बात ही बात में वह जीत लिया जाता है; इसलिए जो योगीश्वर, तपरूपी सुभट के साथ धर्मरूपी लक्ष्मी से युक्त हैं, वे मोक्षरूपी नगर के मार्ग में निरुपद्रव तथा सुख से चले जाते हैं।

भावार्थ ह जिस प्रकार कोई मनुष्य, विदेश को निकले और उसके पास लक्ष्मी भी हो, किन्तु उसके पास यदि कोई सुभट न हो तो वह बात ही बात में भयंकर डाकुओं से लूट लिया जाता है, परन्तु यदि उसके पास थोड़े से भी प्रबल योद्धा होवें तो उसका डाकू कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकते अर्थात् उन डाकुओं को वे योद्धा तत्काल जीत लेते हैं; उसी प्रकार संसार में विषय-कषायरूपी योद्धा यद्यपि अत्यन्त दुर्जय हैं, तथापि जिस मुनि के पास तपरूपी बल-समुदाय है तो उसका वे विषय-कषाय कुछ भी नहीं कर सकते तथा वे मुनि, उपद्रवरहित होकर सुख से मोक्ष को चले जाते हैं; इसलिए मोक्षाभिलाषी मुनियों को तप सबसे प्रिय लगता है।

१००. उत्तम तपधर्म से भयभीत होना व्यर्थ

मन्दाक्रान्ता

मिथ्यात्वादेः, यदिह भविता, दुःखमुग्रं तपोभ्यो;

जातं तस्मादुदककणिकैकेव सर्वाब्धिनीरात्।

स्तोकं तेन, प्रभवमखिलं, कृच्छ्रलब्धे नरत्वे;

यद्येतर्हि, स्खलति तदहो, का क्षतिर्जीव ते स्यात्॥१००॥

मिथ्यात्वादिक से नरकों में, होते हैं जो दुःख महान।
तप से होने वाले दुःख कुछ, नहीं जलधि की बूँद समान॥
महाकष्ट से नर-तन पाया, तप से होते सब गुण प्राप्त।
किन्तु यदि चूके तो मानो! हो जाता है सब कुछ घात॥

अर्थ ह्म आचार्य कहते हैं कि हे जीव! जिस प्रकार समस्त समुद्र की अपेक्षा जल का कण अत्यन्त छोटा होता है, उसी प्रकार तप के करने से तुझे बहुत थोड़े दुःख का अनुभव करना पड़ता है; किन्तु जिस समय मिथ्यात्व के उदय से तू नरक जाएगा, उस समय तुझे नाना प्रकार के छेदनह्मभेदन आदि असह्य दुःखों का सामना करना पड़ेगा तो भी तू न जाने तप से क्यों भयभीत होता है? अरे! तेरी तप करने में क्या हानि है?

१०१. उत्तम त्यागधर्म में मुनियों को देने योग्य दान की मुख्यता

शार्दूलविक्रीडित

व्याख्या या क्रियते श्रुतस्य यतये, यद्दीयते पुस्तकं;

स्थानं संयमसाधनादिकमपि, प्रीत्या सदाचारिणा।

स त्यागो वपुरादिनिर्ममतया, नो किंचिनास्ते यतेः;

आकिञ्चन्यमिदं च संसृतिहरो, धर्मः सतां सम्मतः॥१०१॥

श्रुत की व्याख्या करना एवं, निर्ग्रन्थों को ग्रन्थ-प्रदान।
प्रीतिसहित यति को दे संयम-साधन, यह श्रावक का दान॥
'किञ्चित् भी नहीं मेरा' ह्म ऐसा, हो विचार तन से निर्मम।
आकिञ्चन्यधर्म यह भव-नाशक है श्रेष्ठ कहें सज्जन॥

अर्थ ह्म शास्त्रों का भलीभाँति व्याख्यान करना तथा मुनियों को पुस्तक, स्थान और संयम-शौच आदि के साधन, पीछी-कमण्डलु आदि देना, सदाचारियों का उत्कृष्ट त्यागधर्म है। 'मेरा कुछ भी नहीं है' ह्म ऐसा विचार कर, अत्यन्त निकट शरीर से भी ममता छोड़ देना, आकिञ्चन्य धर्म है, वह यतियों को होता है, वह समस्त संसार का नाश करने वाला है और समस्त श्रेष्ठ पुरुषों के द्वारा आदरणीय है।

१०२. उत्तम त्यागधर्म के धारकों की महिमा

शिखरिणी

विमोहा मोक्षाय, स्वहितनिरताश्चारुचरिताः;

गृहादि त्यक्त्वा ये, विदधति तपस्तेऽपि विरलाः।

तपस्यन्तोऽन्यस्मिन्नपि यमिनि शास्त्रादि ददतः;

सहायाः स्युर्ये ते, जगति यतयो दुर्लभतराः॥१०२॥

निर्मोही हो चारु चरित-धर, निज-हित में ही लीन रहें।

मोक्षहेतु गृह-त्याग करें तप, ऐसे साधु विरले हैं॥

स्वयं तपें तप अन्य मुनी को, शास्त्रादिक दे करें सहाय।

दुर्लभ से दुर्लभ हैं ऐसे, मुनिवर जो जग को सुखदाय॥

अर्थ ह्म जिनका मोह सर्वथा मोह गल गया है, जो अपने आत्मा के हित में ही निरन्तर लगे रहते हैं, जो सुन्दर चरित्र के धारण करने वाले हैं तथा घर, स्त्री, पुत्रादि को छोड़ कर, मोक्ष के लिए तप करते हैं, वे मुनि, संसार में विरले ही हैं। जो स्वतः अपने हित के लिए तप करने वाले हैं, दूसरे तपस्वियों के लिए शास्त्रादिक का दान करते हैं और उनके सहायी भी हैं ह्म ऐसे योगीश्वर, संसार के बीच में अत्यन्त दुर्लभ हैं, वे बड़ी कठिनाई से मिलते हैं।

१०३. उत्तम त्यागधर्म एवं आकिञ्चन्यधर्म में ममत्व-त्याग का महत्त्व

परं मत्वा सर्वं, परिहृतमशेषं श्रुतविदाः;

वपुः पुस्ताद्यास्ते, तदपि निकटं चेदिति मतिः।

ममत्वाभावे तत्, सदपि न सदन्यत्र घटते;

जिनेन्द्राज्ञाभंगो, भवति च हठात् कल्मषमृषेः॥१०३॥

सर्वं परिग्रह भिन्न जान कर, ज्ञानी मुनि ने त्याग किया।

किन्तु देह अरु शास्त्र निकट हैं, क्यों नहीं उनका त्याग किया?॥

उनमें नहीं ममत्व अतः वे, सत् हैं किन्तु असत्-वत् जान।

यदि ममत्व हो तो जिन-आज्ञा-उल्लंघन का पाप महान॥

अर्थ ह्म समस्त शास्त्रों को जानने वाले वीतरागदेव ने अपनी आत्मा से समस्त वस्तुओं को भिन्न जान कर सबका त्याग कर दिया है। यदि कहोगे कि सबको छोड़ते समय उन्होंने शरीर, पुस्तकादि का त्याग क्यों नहीं किया? तो उसका समाधान यह है कि उनकी

शरीरादि में भी किसी प्रकार की ममता नहीं रही है; इसलिए वे मौजूद होते हुए भी नहीं मौजूद की तरह ही हैं अर्थात् मुनियों के शरीरादि का साथ, आयुकर्म का नाश हुए बिना छूट नहीं सकता यदि वे उन शरीरादि को बीच में ही छोड़ दें तो उनको प्राणघात करने के कारण हिंसा का भागी होना पड़ेगा; इसलिए उनके शरीरादि तो रहते हैं, किन्तु वे शरीरादि में किसी प्रकार का ममत्व नहीं रखते। यदि वे शरीरादि में किसी प्रकार का ममत्व करें तो उनको जिनेन्द्र की आज्ञा-भंग करनेरूप महान दोष का भागी होना पड़ेगा अर्थात् जब तक उनको ममत्व रहेगा, तब तक वे मुनि ही नहीं कहे जा सकते हैं।

१०४. उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म : स्त्री ही संसार-परिभ्रमण की कारण

स्रग्धरा

यत्संगाधारमेतत् चलति लघु च यत्, तीक्ष्णदुःखौघधारं;
मृत्पिण्डीभूतं, कृतबहुविकृति, -भ्रान्तिसंसारचक्रम्।
ता नित्यं यन्मुमुक्षुः, यतिरमलमतिः, शान्तमोहः प्रपश्येत्;
जामीः पुत्रीः सवित्रीरिव हरिणदृशः, तत्परं ब्रह्मचर्यम्॥१०४॥

जिसका संग अधिकरण जगत् का, तीव्र दुःखों की पैनी धार।
प्राणी भ्रमते मृत्-पिण्डीवत्, पर्यायें धर विविध प्रकार॥
उस नारी को जो मुमुक्षु यति, लखें मोह को कर उपशान्त।
माता-बहन-सुता-सम वे ही, पाते हैं व्रत ब्रह्म परम॥

अर्थ हूँ जिस प्रकार कुम्भकार का चाक, जमीन के आधार से चलता है, उस चाक की तीक्ष्ण धारा रहती है, उसके ऊपर मिट्टी का पिण्ड भी रहता है तथा वह चाक, नाना प्रकार के कुसूल, स्थास आदि घट के विकारों को करता है; उसी प्रकार संसाररूपी चाक की आधार यह स्त्री है अर्थात् यह स्त्री न होती तो यह जीव, कदापि संसार में भटकता न फिरता।

इस संसाररूपी चाक में अत्यन्त तीक्ष्ण दुःखों का समूह ही धार है अर्थात् संसार में नाना प्रकार के नरकादि दुःखों का सामना करना पड़ता है। इस संसाररूपी चाक के ऊपर नाना प्रकार के जीव ही पिण्ड हैं। यह संसाररूपी चाक, देव-मनुष्यादि नाना प्रकार के विकार धारण करा कर, जीवों को भ्रमण कराने वाला है; अतः स्त्री ही संसार-चक्र की कारण है। इसलिए जो मोक्ष का अभिलाषी मनुष्य, उन स्त्रियों को माता-बहिन-पुत्री के समान मानता है, उसी के उत्कृष्ट **ब्रह्मचर्यधर्म** का भलीभाँति पालन होता है; अतः ब्रह्मचारी मनुष्यों को चाहिए कि वे कदापि स्त्रियों के साथ सम्बन्ध न रखें।

१०५. स्त्रियों से प्रीति छोड़ने वाले ही महान

मालिनी

अविरतमिह तावत्, पुण्यभाजो मनुष्याः;

हृदि विरचितरागाः कामिनीनां वसन्ति।

कथमपि न पुनस्ता, जातु येषां तदंगी;

प्रतिदिनमतिनम्राः, तेपि नित्यं स्तुवन्ति॥१०५॥

जो नारी को प्रिय हैं पर, उनमें नहीं है नारी का वास।

नारी को प्रिय पुण्यवान भी, उन्हें नमें नित शीश नवा॥

अर्थ ह्म जो पुरुष, निरन्तर स्त्रियों के हृदय में प्रीति उपजाने वाले हैं अर्थात् जिनको स्त्रियाँ चाहती हैं, वे भी यद्यपि संसार में धन्य हैं, तथापि जिन मनुष्यों के हृदय में स्त्रियाँ स्वप्न में भी निवास नहीं करतीं, वे उनसे भी अधिक धन्य हैं तथा उन वीतरागी पुरुषों के चरण-कमलों को स्त्रियों के प्रिय पात्र, बड़े-बड़े चक्रवर्ती आदि भी सिर झुका कर नमस्कार करते हैं; इसलिए जिन पुरुषों को संसार में अपनी कीर्ति फैलाने की इच्छा है, उनको कदापि स्त्रियों के जाल में नहीं फँसना चाहिए।

१०६. दानत धरम दश पैँड़ि चढ़ि कै, शिवमहल में पग धरा.....

स्रग्धरा

वैराग्यत्यागदारु, -कृतरुचिरचना, चारुनिःश्रेणिका यैः;

पादस्थानैरुदारैः, दशभिरनुगता, निश्चलैर्ज्ञानदृष्टेः।

योग्या स्यादारुरुक्षोः, शिवपदसदनं, गन्तुमित्येषु केषां;

नो धर्मेषु त्रिलोकी-पतिभिरपि सदा, स्तूयमानेषु हृष्टिः॥१०६॥

त्याग-विराग काष्ठ-खण्डों से बनी हुई उत्तम सीढ़ी।

क्षमा आदि दस पाद-स्थल युत, मोक्षमहल को है जाती॥

मुक्ति-कामिनी वाञ्छक नर को, यही नसैनी योग्य कही।

सुरपति से उन वन्द्य धर्म दश, धरने में नहीं हर्ष किसे?॥

अर्थ ह्म आचार्य कहते हैं कि जिसके इधर-उधर वैराग्य तथा त्यागरूपी मनोहर काष्ठ लगे हुए हैं, जिसमें बड़े-बड़े मजबूत दश धर्मरूपी पाद-स्थान (डण्डे) मौजूद हैं ह्म ऐसी सीढ़ी मोक्षरूपी महल पर चढ़ने की इच्छा करने वाले मनुष्य को चढ़ने के लिए योग्य है क्योंकि जो

तीन लोक के पति इन्द्रादिकों से वन्दनीक हैं ह्व ऐसे उन दश धर्मों के धारण करने में किसको हर्ष नहीं होता है? अर्थात् समस्त मोक्षाभिलाषी उनको हर्ष के साथ पालते हैं।

१०७. अनन्त चतुष्टयस्वरूप स्वस्थता को नमस्कार

शार्दूलविक्रीडित

निःशेषामलशीलसद्गुणमयी, -मत्यन्तसाम्यस्थितां;
वन्दे तां परमात्मनः प्रणयिनीं, कृत्यान्तगां स्वस्थताम्।
यत्राऽनन्तचतुष्टयाऽमृत - सरित्याऽऽत्मानमन्तर्गतं;
न प्राप्नोति जरादिदुःसहशिखः, संसारदावानलः॥१०७॥

रहें सदा समभावों में जो, निर्मलशील-गुणों की खान।
आत्म-प्रीतिकर कर्तव्यान्तक, आत्मलीनता धर्म महान॥
जो ज्ञानादि चतुष्टय अमृत, -सरिता में स्नान करें।
जन्म-जरा-दुःख दावानल भी, उन्हें दुःखी नहीं कर सकते॥

अर्थ ह्व समस्त निर्मल शीलगुण स्वरूप, सर्वथा समतारूप अवस्था में होने वाली, उत्कृष्ट आत्मा से प्रीति कराने वाली, जिसके होने पर किसी प्रकार का कर्तव्य बाकी नहीं रहता ह्व ऐसी स्वस्थता को मैं नमस्कार करता हूँ क्योंकि अनन्त विज्ञानादि अनन्त चतुष्टय-स्वरूप, स्वस्थतारूपी अमृत नदी के भीतर रहने वाली आत्मा को जरा आदि दुःसह शिखा को धारण करने वाला संसाररूपी बड़वानल प्राप्त नहीं हो सकता।

भावार्थ ह्व जिस प्रकार कोई नदी के जल में प्रवेश कर जाए तो उसका भयंकर अग्नि कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकती; उसी प्रकार जो अनन्त चतुष्टयस्वरूप स्वस्थतारूपी अमृत नदी में प्रविष्ट है, उसको असह्य भी संसाररूपी बड़वाग्नि अंशमात्र भी नहीं सता सकती।

१०८. अनेक प्रकार के आनन्द को उत्पन्न करने वाले चैतन्य को मेरा नमस्कार!

आयातेऽनुभवं भवारिमथने, निर्मुक्तमूर्त्याऽऽश्रये;
शुद्धेऽन्यादृशि सोमसूर्यहुतभुक्, -कान्तेरनन्तप्रभे।
यस्मिन्नस्तमुपैति चित्रमचिरात्, निःशेषवस्त्वन्तरं;
तद्वन्दे विपुल-प्रमोद-सदनं, चिद्रूपमेकं महः॥१०८॥

जो भवारि-नाशक है अनुभवगम्य देह बिन है अनुपम।
सूर्यादिक से अधिक प्रभामय, अन्य ज्ञान से रहे अगम॥